राष्ट्रीय एकता और संपर्क भाषा के रूप में हिंदी की भूमिका

चित्रा सिंह*

भारत में अंग्रेज़ी के प्रभुत्व के समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि यह एक वैश्विक भाषा है, तकनीक और विज्ञान की भाषा है, अतः यदि हमें इन क्षेत्रों में तरक्की करनी है और विश्व में अपना प्रभाव बढ़ाना है तो हमें इस पर अधिकार बनाए रखना चाहिए। इस बारे में दूसरा तर्क यह भी दिया जाता है कि अमेरिका व ब्रिटेन, जो दुनिया में प्रभाव रखते हैं व विज्ञान के विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं, की भाषा अंग्रेज़ी है, अतः अंग्रेज़ी पर हमारा अधिकार हमें स्वाभाविक रूप से समृद्ध करेगा। तीसरा तर्क यह दिया जाता है कि हमारी भारतीय भाषाओं में विभिन्न विषयों, विशेष रूप से विज्ञान से संबंधित विषयों की शब्दावली का अभाव है। कहा जाता है कि यदि हमें इन विषयों में हो रहे विकास और गति से सामंजस्य बैठाना है तो हमें अंग्रेज़ी जाननी ही चाहिए और यह भी कहा जाता है कि सभी विषयों से संबंधित हिंदी शब्दावली, जो संस्कृत से ली जाती है, समझने व बोलने में इतनी कठिन होती है कि इसे व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। इसके ठीक विपरीत पुरातनवादी खेमा अतीत की उपलब्धियों को पश्चिम के ज्ञान और अध्ययन के क्षेत्रों में वर्तमान उपलब्धियों से श्रेष्ठ बताकर अंग्रेज़ी को बाहर निकालने पर आमादा रहता है। वहीं, प्रगतिशील खेमा इसे पोंगापंथी कहकर यह भुला देता है कि इतने लंबे सांस्कृतिक काल में कोई भी संस्कृति ज्ञान और अध्ययन के क्षेत्रों में कुछ तो उपलब्धि रखती ही होगी और इनसे संबंधित शब्दावली भी उसकी भाषाओं में मौजूद होगी ही, क्योंकि शब्द केवल भाषा की अभिव्यक्ति भर के लिए नहीं होते; वे व्यवहार का माध्यम भी होते हैं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी वे उतने ही उपयोगी हो सकते हैं एवं ज्ञान और अध्ययन के विभिन्न क्षेत्रों में हमें आगे बढ़ा सकते हैं। मातृभाषाओं में विभिन्न विषयों का अध्ययन इससे आसान बनाया जा सकता है और ज्ञान एवं अध्ययन के सभी क्षेत्रों में देश के विकास को गति दी जा सकती है। लेकिन संपर्क भाषा की आवश्यकता इन दो मानसिकताओं और प्रवृत्तियों के बीच उलझकर रह जाती है और हम देखते हैं कि हमारी राष्ट्रीय एकता पर ही प्रश्न चिह्न लग जाता है। प्रस्तुत लेख में इस मनःस्थिति और प्रवृत्ति पर प्रकाश डालने के साथ वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारतीय भाषाओं के मध्य हिंदी संपर्क भाषा के रूप में क्या योगदान दे सकती है? उसकी इस संभावित भूमिका पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तावना

भारतीय इतिहास के हिंदू वर्चस्व काल में संस्कृत, मुस्लिम काल में फ़ारसी व ब्रिटिश काल में अंग्रेज़ी एलीट या अभिजात्य वर्ग की भाषा रही और प्रशासन की भी। लेकिन आमजन की भाषा प्रायः अलग ही रही और उसे प्रशासन का संरक्षण भी कम ही मिला

**सह प्राध्यापक*, क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान, रा.शै.अ.प्र.प. भोपाल, मध्य प्रदेश – 462013

यही नहीं, बौद्धिक कहलाने वाला वर्ग भी प्रायः इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं रहा। यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है और आज भी कायम है, लेकिन प्रारम्भ में ऐसा नहीं था। हमारे देश के प्रामाणिक और अभिलिखित इतिहास का प्रारम्भ सम्राट अशोक के काल से होता है और उनकी भाषा नीति इसका अपवाद है। अशोक के अभिलेखों कि भाषा आम बोलचाल की प्राकृत भाषा थी और लिपि ब्राह्मी थी। ये अभिलेख प्राचीन भारत के सुदूर पश्चिमी सीमांत के शार-ए-कुना, जो वर्तमान अफ़गानिस्तान के कंधार में प्राचीन सिकन्दरिया के समीप स्थित था, से लेकर दूर दक्षिण के एर्रागुन्डी तक फैले हुए थे और ये हमें केवल अशोक के राज्य की सीमाओं से ही अवगत नहीं कराते, वरन् उसकी भाषा नीति पर भी प्रकाश डालते हैं। इतने विशाल क्षेत्र में एक ही भाषा नहीं थी, इसका प्रमाण स्वयं ये अभिलेख भी देते हैं और पश्चिमी सीमांत के उपरोक्त लेख में जहाँ यूनानी और एरमाईक लिपि प्रयुक्त है, वहीं अफ़गानिस्तान के ही पुल-ए-दारुन्त के अभिलेख में लिपि एरमाईक है, लेकिन इसमें गान्धारी प्राकृत के कुछ शब्द हैं। इसी तरह भाषा भी, जो मूलतः मागधी प्राकृत थी, हर क्षेत्र विशेष का स्थानीय प्रभाव लिए हुए है। इसके अलावा अपने एक और अभिलेख में स्वयं अशोक ये बताते हैं कि ये अभिलेख उन्होंने क्यों लगवाए थे और वह इनमें अपने उन अधिकारियों को निर्देश भी देते हैं, जिनके लिए ये प्राथमिक रूप से लगवाए गए थे। यह अधिकारी वर्ग ही इन्हें पढ़ सकता था और अशोक इनमें उन्हें जनता के बीच प्रचारित करने के निर्देश भी देते हैं। इससे यह भी पता चलता है कि वे जनता के लिए हो भी नहीं सकते थे, क्योंकि इसकी लिपि सर्वथा नयी थी और आमजन तो इससे पूरी तरह अनजान था। अशोक ने दक्षिण भारत में इन अभिलेखों को उत्कीर्ण करने के लिए लिपिकार को भी उत्तर से ही भेजा था। इसका पता हमें एक ही लिपिकार का नाम उत्तर और दक्षिण भारत के दो अभिलेखों में पाए जाने से लगता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि प्राकृत को अशोक एक संपर्क भाषा के रूप में काम में लेते थे। ये भारत के इतिहास में 'एक भाषा-एक लिपि' की नीति का आरम्भ था और अशोक जैसे दूरदर्शी शासक ने एक विशाल क्षेत्र के प्रशासन के लिए इसकी आवश्यकता का तभी अनुभव कर लिया था। लेकिन निरन्तर बदलती राजनैतिक परिस्थिति के कारण यह बाद में कभी संभव ही नहीं हो पाया, आज तक भी नहीं। इतना ज़रूर हुआ कि इस लिपि ने भारत की सभी भाषाओं की लिपियों को जन्म दिया। बाद में मुस्लिम काल में प्रशासन की भाषा फ़ारसी हो गई और इसके अवशेष हम आज तक न्यायालयों की भाषा में दीवानी और फ़ौजदारी जैसे पारिभाषिक शब्दों के रूप में पाते हैं और रजिस्ट्री इत्यादि की शब्दावली एवं भाषा तो आज भी विशेष रूप से या तो अंग्रेज़ी है या फ़ारसी प्रेरित उर्दू है। उच्च न्यायालयों की तो सारी पारिभाषिक शब्दावली ही अंग्रेज़ी में है और इसमें भी ठेठ लैटिन से लिए गए 'केवियट' और 'हेबियस कॉरपस' जैसे पारिभाषिक शब्द मौजूद हैं। अंग्रेज़ों के शासन के साथ ही अंग्रेज़ी के प्रभुत्व का भी आरम्भ हुआ था और यह आज तक बना हुआ है। आज प्रशासन की भाषा हिंदी बन गई है, जिसे राजभाषा

का दर्जा दिया गया है। यह धीरे-धीरे ही सही, अपना स्थान बनाती जा रही है। उपरोक्त सभी तथ्यों की पुष्टि से ज्ञात होता है कि शासन की भाषा ही अन्ततः जनता की भाषा बन जाती है।

परन्तु असली परेशानी यहीं से प्रारंभ होती है। भाषाओं को लेकर हमारे यहाँ चलती सतत बहसों में इसे दूसरे भाषा-भाषियों द्वारा हिंदी का वर्चस्व स्थापित करने के प्रयास के तौर पर प्रस्तुत किया जाता है। वहीं, स्वयं हिंदी भाषियों का प्रगतिशील कहलाने वाला समूह इसके दूसरे पक्ष पर घोर आपत्ति करता है। वह पक्ष है संस्कृतनिष्ठ हिंदी। इस समूह के अनुसार इससे हिंदी समझने में कठिन हो जाती है, अतीत के प्रति मोह झलकता है, जिसका समाज के उग्रवादी वर्ग द्वारा दुरुपयोग कर साम्प्रदायिक रंग दे दिया जाता है और इससे देश और समाज के धर्मनिरपेक्ष ढाँचे को चोट पहुँचती है। सबसे प्रभावकारी तर्क यह दिया जाता है कि इससे भाषा, यानी हिंदी, मर जाएगी। इस तरह मूल प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है और सर्वथा एक विदेशी भाषा अपना वर्चस्व रखती है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्यों एक पूरी तरह भारतीय भाषा अपना अस्तित्व और वर्चस्व स्थापित नहीं कर सकती? क्यों ज्ञान और अध्ययन के क्षेत्रों में भारतीय भाषाएँ अपना योगदान नहीं दे सकतीं? क्यों वह भाषा हिंदी नहीं हो सकती, चाहे वह कितनी भी संस्कृतनिष्ठ क्यों न हो?

हिंदी का संस्कृतकरण — सही दिशा में उठाया गया गलत कदम

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिंदी को राजभाषा का दर्जा दिया गया और इसे शासकीय स्तर पर प्रसारित करने के प्रयास प्रारंभ हुए। सबसे पहली आवश्यकता प्रशासनिक कार्यों के लिए हिंदी को तैयार करने की थी और इसके लिए शब्दावली बनाने के प्रयास प्रारम्भ हुए। चूँकि हमारा पूरा प्रशासनिक ढाँचा अंग्रेज़ी शासन पर आधारित था और सीमित बदलावों के साथ ज्यों का त्यों अपना लिया गया था, अतः अंग्रेज़ी की प्रशासनिक शब्दावली का हिंदीकरण प्रारम्भ हुआ। इसे हम आज हिंदी के संस्कृतकरण करने का नाम देते हैं। यह अंग्रेज़ी की प्रशासनिक शब्दावली के पारिभाषिक शब्दों को संस्कृत के माध्यम से हिंदी में लिखने का प्रयास था। लेकिन यह शब्दावली कहीं-कहीं इतनी कृत्रिम और जटिल हो गई थी कि हंसी-मज़ाक और व्यंग्य का विषय भी बन गई थी और आज तक ऐसा ही है। "उसे शुद्ध हिंदी में समझा दो" जैसे वाक्य इसका अच्छा उदाहरण हैं। प्रसिद्ध अभिनेता संजीव कुमार द्वारा एक फ़िल्म में शुद्ध हिंदी के उपयोग का मज़ाक के रूप में चित्रण इसका एक और उदाहरण है। इसके साथ ही शासकीय सूचना माध्यम, जैसे — आकाशवाणी के बारे में प्रसिद्ध सिने अभिनेता आई.एस. जौहर और जॉनी वाकर की टिप्पणी याद आती है, जो उन्होंने आकाशवाणी पर प्रसारित हिंदी समाचारों पर की थी। इन समाचारों का आरम्भ इस वाक्य से होता था, "अब आप देवकीनन्दन खत्री से हिंदी में समाचार सुनिये" उन्होंने कहा की इसे होना चाहिए, "अब आप देवकीनन्दन खत्री से समाचारों में हिंदी सुनिये।" यह टिप्पणी प्रकारान्तर से प्रायः सभी अहिंदी भाषियों की भावनाओं को शब्द देती है।

हिंदी का संस्कृतकरण — भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा का प्रस्थान बिंदु

हिंदी के संस्कृतकरण पर रवीन्द्रनाथ टैगोर की बोलपुर बंगाल में लाला भगवान दीन से भेंट के दौरान कही गई एक बात गौरतलब है, वे उनसे कहते हैं — "बंगाली ने संस्कृत से शब्दावली ली है, विशेष रूप से अध्ययन व दर्शन के क्षेत्र में। पर हिंदी को संस्कृत से ले लेने की क्या ज़रूरत रह गयी थी, क्योंकि कबीर ने तो इसकी सारी शब्दावली अपनी रचनाओं में हिंदी में पहले से ही दे दी थी।" लाला भगवान दीन हिंदी के संस्कृतकरण के बारे में विपरीत राय रखते थे। इस बारे में 'दिल्ली प्रेस पत्रिका' समूह की पत्रिकाओं में निरन्तर प्रकाशित अपने लेखों में वह सुझाव देते रहते थे। वे सुझाव कितने कारगर थे, इसे उनके द्वारा सुझाए गए एक उदाहरण से समझा जा सकता है। वे अंग्रेज़ी के 'रिप्रज़ेन्टेटिव' के लिए 'प्रतिनिधि' शब्द को एक कठिन विकल्प बताते हुए लिखते हैं कि बोलचाल की भाषा इसके लिए एक शब्द देगी 'ओरिया' यानी 'ओर से' और उनके अनुसार ये आसानी से प्रचलित हो जाएगा। यह शब्द तो वे शासन और आमजन तक नहीं पहुँचा पाए, लेकिन हम देखते हैं कि 'प्रतिनिधि' छाया हुआ है, भाषाई रूप से भी और राजनैतिक रूप से भी। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कोई भाषा या शब्द कठिन नहीं होते, बस उनका उपयोग और चलन उन्हें सरल बना देता है। भाषाओं के विकास क्रम और इतिहास का अध्ययन कर हम यह जान सकते हैं। लेकिन हमारा बौद्धिक वर्ग इसे स्वीकारना नहीं चाहता और हिंदी के संस्कृतकरण को राजनीति प्रेरित मानता है। जबकि अंग्रेज़ी में ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच, के शब्दों, वाक्यों, वाक्यांशों का तथा कठिन शब्दों का प्रयोग विद्वता की निशानी माना जाता है और यही वर्ग इसे स्वाभाविक मानता है।

हम यदि अंग्रेज़ी के सभी राष्ट्रीय स्तर के सम्पादकीय और सम्पादकीय पृष्ठ के आलेखों का अध्ययन करें, तो इस प्रवृत्ति का अनुभव कर सकते हैं। दिलीप पाडगावकर जब *टाइम्स ऑफ़ इंडिया* के सम्पादक थे, तब उनके सम्पादकीय की भाषा इतने कठिन शब्दों से भरी होती थी कि पूरी तरह समझने के लिए शब्दकोश की सहायता लेनी पड़ती थी। अंग्रेज़ों की तरह रहने, व्यवहार करने और लिखने वाले लेखक नीरद सी. चौधरी की पुस्तकों में ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच शब्दों, वाक्यों, वाक्यांशों का बहुतायत में प्रयोग हम देख सकते हैं और यह शैली उन्होंने 19वीं सदी के यूरोपीय लेखन का अनुसरण कर अपनाई थी, जिसका असर आज के अंग्रेज़ी लेखन में भी मिल जाता है। लेकिन इस प्रवृत्ति पर कोई प्रश्न चिह्न नहीं लगता और इनका भक्त अंग्रेज़ीदां तबका हिंदी में संस्कृत शब्दों के उपयोग को प्रतिगामी ठहराता है। दुःख की बात यह है कि हिंदी का विद्वत समाज भी इसमें उनके साथ खड़ा नज़र आता है। ये वर्ग यह भी भूल जाते हैं कि धर्म, दर्शन, संगीत, कला, अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान में भी हम नया करते रहे थे और इन विषयों की हमारी अपनी शब्दावली रही है। आयुर्वेद, संगीत इत्यादि की हमारी शब्दावली हमें कठिन लगती है, लेकिन जब हम अंग्रेज़ी के

विज्ञान विषयों की शब्दावली देखें तो उसमें भी लैटिन, ग्रीक इत्यादि भाषाओं से लिए गए कठिन शब्द हैं। उदाहरणार्थ — बायोलॉजी, बॉटनी और ज़ूलॉजी की तो सारी पारिभाषिक शब्दावली बहुत कठिन है, लेकिन हमें इसमें कुछ भी कठिन नहीं लगता, वहीं संस्कृत शब्दों का प्रयोग कठिन लगता है। यही भूल स्वतंत्रता के बाद प्रशासनिक शब्दावली विकसित करने वालों ने की थी। उन्होंने अंग्रेज़ी शब्दों का सीधे अनुवाद दिया, जबकि उन्हें इसके लिए संस्कृत और दूसरी भारतीय भाषाओं की शब्द सम्पदा का उपयोग करना चाहिए था। हमने अपने प्राचीन संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं के ग्रंथों से सभी विषयों की शब्दावली लेकर उसका व्यापक प्रचार किया होता तो वे शब्द कठिन नहीं होते, क्योंकि कोई भी शब्द और भाषा कठिन नहीं होती, बात सिर्फ़ उसके उपयोग होने की है। एक और बात यहाँ ध्यान रखने की है कि प्रायः सभी भारतीय भाषाओं की अधिकांश शब्दावली संस्कृत से ही निकली है। अतः ऐसी हिंदी जिसमें संस्कृत शब्दावली होगी, अहिंदी भाषियों के लिए कम कठिन होगी। अशोक के बाद ये सारी बातें एक और व्यक्ति ने अनुभव कर ली थी, वे थे महात्मा गाँधी। राष्ट्रभाषा एवं संपर्क भाषा पर उनकी नीति हमें मार्गदर्शन दे सकती है। वर्तमान में यह बहुत आवश्यक हो गया है, क्योंकि विद्यालयी पाठ्यक्रम में तीसरी भाषा के रूप में संस्कृत को हटाकर जर्मन भाषा लागू करने के बाद फ्रेंच भाषा को स्थान देने की कवायद प्रारम्भ हो चुकी है। देश के उत्तरी भाग में तीसरी भाषा के रूप में दक्षिण की किसी एक भाषा का अनिवार्य विकल्प जहाँ विद्यार्थियों को देश की एक और भाषा से जोड़ेगा, वहीं देशवासियों को भी। क्योंकि अहिंदी भाषी प्रायः यह शिकायत करते हैं कि उन पर तो हिंदी 'थोप' दी गई है, लेकिन हिंदी भाषी इससे मुक्त हैं और वे तीसरी भाषा के रूप में अंग्रेज़ी के अलावा जर्मन या फ्रेंच का विकल्प पाकर उनसे एक कदम आगे हो जाते हैं।

गाँधीजी ने इस भावना को भी भांप लिया था और जिस भाषा नीति को कार्यरूप दिया था, वो आज भी उतनी ही कारगर हो सकती है। गाँधीजी ने हिंदी और हिंदुस्तानी को एक औपनिवेशिक उत्पाद के दर्जे से मुक्त कर राष्ट्रीय अवधारणा के रूप में सामने रखा था। पर ऐसा नहीं है कि उनके इस विचार को निर्विरोध स्वीकार कर लिया गया। उन्होंने सर्वप्रथम दक्षिण भारत में हिंदी का प्रचार शुरू कर अपने इस अभियान का प्रारम्भ किया। 1918 में मद्रास के गोखले हॉल में एनी बेसेंट की अध्यक्षता में हिंदी प्रचार शुरू हुआ। दक्षिण हिंदी प्रचार सभा की स्थापना की गई। हिंदी प्रचार एक राष्ट्रीय व्रत हो गया, जिसमें दक्षिण के नौजवान भी बड़ी संख्या में कूद पड़े।

गाँधीजी के नेतृत्व में कार्य करने वाले, देश की आज़ादी के लिए संघर्ष करने वाले लोगों के सामने, नेताओं और जनता के सामने यह समस्या थी कि स्वतंत्रता के बाद समूचे देश की राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय कार्यों में व्यवहार की भाषा क्या होगी। अतः हिंदी के समस्त प्रान्तों में विशेषतः दक्षिण भारत में जो हिंदी शिक्षा के प्रति समर्पण और आकर्षण बढ़ा, वह हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने

की राष्ट्रीय भावना से अभिप्रेरित था। हिंदी सीखना और सिखाना राष्ट्र निर्माण का कर्तव्य बन गया। इन बड़ी संस्थाओं के कार्यक्षेत्र अत्यंत विस्तृत, व्यापक और हिंदी प्रचार-प्रसार और शिक्षा को सुव्यवस्थित करने के लिए मार्गदर्शक बनें। प्रदेश स्तर पर अनेक संस्थाएँ बनीं, जिनमें प्रमुख थीं — हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद, स्थापना 1935 ई., मैसूर हिंदी प्रचार परिषद्, बेंगलुरु, 1943 ई., महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, पुणे, 1945 ई., हिंदुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा, 1942 ई., केरल हिंदी प्रचार सभा, तिरूवनन्तपुरम् और कर्नाटक हिंदी प्रचार सभा, धारवाड़।

लेकिन गाँधीजी की भाषा नीति में प्रान्तीय भाषाओं को दबाने-सताने के भाव का लेशमात्र भी स्थान नहीं था। सन् 1935 में काका साहेब कालेलकर ने गाँधीजी से कहा कि लोगों में यह अफ़वाह फैली हुई है कि हिंदी प्रचार का उद्देश्य प्रान्तीय भाषाओं का दमन है। तब गाँधीजी ने साहित्य सम्मेलन के मंच से घोषित किया — "मेरा कहना बराबर यही रहा है कि प्रान्तीय भाषाओं को हम ज़रा भी आहत नहीं करना चाहते, उनका दमन या नाश करना तो दूर की बात है।"

उनकी यह सोच उनके द्वारा सम्पादित *द इंडियन ओपीनियन* समाचार-पत्र में नज़र आती है, जिसे उन्होंने अंग्रेज़ी के साथ गुजराती, हिंदी और तमिल में भी प्रकाशित किया। तब वे बहुभाषी भारत के अनुरूप भाषाई प्रयोग कर रहे थे और उनका यह निष्कर्ष था कि अंग्रेज़ी में काम करके हम गुलामी को ही मज़बूत करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह गाँधीजी की स्पष्ट भाषा नीति का ही परिणाम था कि स्वतंत्र भारत में नागरी लिपि में लिखित हिंदी को संघ की राजभाषा की मान्यता दी गई।

संपर्क भाषा हिंदी — स्वीकरण की समस्या

भारतीय संविधान के अनुसार हिंदी राजभाषा तो बना दी गई, पर राष्ट्रभाषा नहीं बन पाई। उसका राष्ट्रभाषा बनना उतना आवश्यक भी नहीं जितना राष्ट्रीय एकता की मज़बूत कड़ी के रूप में एक राष्ट्रीय संपर्क भाषा का होना है। आज संपर्क भाषा की यह भूमिका प्रशासकीय रूप से अंग्रेज़ी ने ले ली है और व्यावहारिक रूप से हिंदी ने। इससे यह निष्कर्ष हम निकाल सकते हैं कि एक संपर्क भाषा की आवश्यकता राजनैतिक उठापटक से परे है और यह भूमिका हिंदी बहुत अच्छे से निभा सकती है और निभा भी रही है, बस इसे प्रशासनिक जामा पहनाया जाना होगा। इसके लिए हिंदी भाषियों को उदार बनना होगा और कुछ अतिरिक्त प्रयास करने होंगे।

सबसे पहला कदम यह हो सकता है कि विद्यालयी शिक्षा में तीसरी भाषा के रूप में किसी दूसरी भारतीय भाषा को, विशेष रूप से दक्षिण की किसी भाषा के शिक्षण का विकल्प और उसे सिखाना होगा। जैसा कि गाँधीजी ने भी किया था। इसके लिए हिंदी भाषी राज्यों को दक्षिण भारत या शेष भारत के राज्यों से शिक्षक आमंत्रित करने चाहिए। सारी भाषाओं का विकल्प सभी जगह देना तो संभव नहीं है, अतः किसी एक भाषा का एक विद्यालय में पाठन कराया जा सकता है।

यह एक कठिन कदम होगा, क्योंकि इस बारे में सबसे प्रबल विरोध अभिभावकों की ओर से और निजी विद्यालयों के प्रबंधन की ओर से होगा। यह वही वर्ग है जो तीसरी भाषा के रूप में संस्कृत का भी प्रबल विरोधी रहा है और इसे एक 'मृतभाषा' मान अपने बच्चों और विद्यार्थियों पर थोपा हुआ मानता है। उन्हें बताना होगा कि तीसरी भाषा के रूप में ये भारतीय भाषाएँ 'जीवित भाषाओं' से ही ली गई हैं और राष्ट्रीय एकता की कड़ी मज़बूत करने के लिए यह एक आवश्यक कदम है।

यही वर्ग इस कदम की उपयोगिता पर भी प्रश्न चिह्न लगाएगा, अतः उन्हें समझाना होगा कि उपयोगिता तो फ्रेंच और जर्मन भाषाओं की भी नहीं है, क्योंकि पूरी दुनिया में अंग्रेज़ी ही संपर्क भाषा है — व्यवहार की भी, सत्ता की भी और ज्ञान की भी। केवल एक देश विशेष में उसकी भाषा प्रभाव रखती है, जैसे — जर्मनी में जर्मन। ये देश भी अंग्रेज़ी के बढ़ते प्रभाव से आक्रांत हैं और अपनी भाषाओं के प्रसार के लिए कई तरह की योजनाएँ चलाते हैं, छात्रवृति आदि देते हैं। अतः यदि अभिभावक इसका लाभ उठाना चाहते हैं तो उन्हें इन भाषाओं को अलग से चौथी भाषा के रूप में सिखाने की व्यवस्था करनी चाहिए। फिर इस हेतु इन देशों ने अपने केन्द्र भी खोले हैं, जहाँ ये भाषाएँ सिखाई भी जाती हैं। वैसे भी इन दो यूरोपीय भाषाओं को उनकी अभिजात्य प्रतिष्ठा के कारण ही ज़्यादा महत्व दिया जाता है, उपयोगिता के कारण नहीं। अतः यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि तीसरी भाषा तो कोई भारतीय भाषा ही हो।

परंतु इस पर अभिभावकों का सबसे प्रभावकारी तर्क होगा कि इससे बच्चों पर अतिरिक्त बोझ पड़ेगा। इसका निराकरण उन्हें विद्यालयों में सतत चलती ढेर सारी पाठ्यक्रम इतर गतिविधियों को, जो संपूर्ण विकास के नाम पर विद्यार्थियों से कराई जाती हैं और उन्हें ढेर सारा गृह कार्य दिया जाता है, के प्रभावी प्रबंधन द्वारा करने को कहा जा सकता है।

अगला कदम हिंदी भाषी राज्यों द्वारा अपने वित्तीय संसाधनों से अहिंदी भाषी राज्यों में हिंदी शिक्षक भेजना होगा। ये शिक्षक उन राज्यों में न केवल हिंदी सीखाएँगे, वरन् अहिंदी भाषी हिंदी अध्यापकों की एक पीढ़ी भी तैयार करेंगे जो भविष्य में उस राज्य में हिंदी पढ़ाएँगे।

इन छोटे लेकिन प्रभावशाली कदमों से हिंदी की स्वीकार्यता बढ़ेगी। हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने पर नहीं, बल्कि राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक एक संपर्क भाषा बनाने पर ज़ोर दिया जाना चाहिए, जो एक गाँधीवादी कदम होगा — सर्व-समावेशी, सर्व-स्वीकार्य और सर्वव्यापी।

उपसंहार

भाषा का प्रश्न एक जटिल प्रश्न है और एक संवेदनशील मुद्दा भी। भारत जैसे बहुभाषी समाज में यह और भी जटिल हो गया है या बना दिया गया है। भारतीय इतिहास की यह त्रासदी रही है कि हम अपने में से किसी एक का बढ़ता प्रभाव और नेतृत्व स्वीकार नहीं कर पाते और इसका लाभ बाहरी तत्व लेते रहे हैं। हमारा इतिहास इसका गवाह है। अंग्रेज़ी का प्रभुत्व इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। हमें इस बारे में ठोस कदम

उठाने होंगे और पहल हिंदी भाषियों को ही करनी होगी, क्योंकि वह सबसे बड़ा वर्ग है और उसकी इस पहलू पर उदारता राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक है। पर राष्ट्रीय एकता के लिए परम आवश्यक है एक संपर्क भाषा, जो हिंदी ही हो सकती है और है भी, बस उसे अपनी इस शक्ति को पहचानकर समाधान प्रस्तुत करना होगा। उसे राज नहीं करना है, बल्कि सुराज का वाहक बनना है। अंग्रेज़ी ने शासन और जनता के बीच जो दूरी पैदा की है, उसे हिंदी मिटा सकती है।

संदर्भ

गाँधी, एम.के. 2014. *हिन्द स्वराज*. सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वराणसी

डी.आर. भंडारकर और अशोक. *भारत छोड़ो आंदोलन*. ए.जे. प्रिंटर्स, बहादुरशाह ज़फ़र मार्ग, नयी दिल्ली.

राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद्. 1999. *गाँधी के शैक्षिक विचार*. राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद्, नयी दिल्ली.

सत्यामूर्ति. *शिक्षा के विविध आयाम — महात्मा गाँधी का शिक्षा दर्शन*. अरुण प्रकाशन, दिल्ली.

सूचना और प्रसारण मंत्रालय. *संपूर्ण गाँधी वाङ्मय* (प्रथम आवृत्ति). प्रकाशन प्रभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली.